

सभेयो युवेति। एष वै सभेयो युवा, यः प्रथमवयसी। तस्मात् प्रथमवयसी स्त्रीणां प्रियो

भावुकः। शतपथब्रा. 13/1/9/8

सुप्रसिद्ध आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र की व्याख्या के माध्यम से भगवान् याज्ञवल्क्य मन्त्र के सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् इस अंश का समन्वय करते हुए कह रहे हैं कि—यही वह 'सभेय' (सभाप्रिय—सभानुगत—शिष्ट समाजाभिमुख) युवा यजमान है। जो प्रथमवयसी (युवक) है। अपनी इसी प्रथम अवस्थारूप युवावस्था के आकर्षण से यह प्रथमवयसी (युवक) मानव स्त्रियों का प्रिय भावुक बना रहता है। स्त्रियाँ सहज भावुक होती हैं, जैसा कि अग्रिम वचनों से स्पष्ट होने वाला है। युवावस्था में मानव भी निष्ठा बुद्धि की अपरिपक्व अवस्था से अपनी मानसिक उँफची तराँ में प्रवाहित रहता हुआ, नितान्त भावुक अस्थिरप्रज्ञ—बना हुआ समानधर्मान्विता भावुक स्त्रियों के आकर्षण का केन्द्र प्रमाणित होता रहता है। प्रथम वयस्क (25 वर्ष से पूर्व—पूर्व) मानव बुद्धि की अपरिपक्वता से स्त्रियों की भाँति निष्तालक्षण उत्तरदायित्व से असंस्पृष्ट रहता हुआ भावुक ही बना रहता है, यही श्रुति का अर्थ है।

अश्वं तूपरं गोमृगमिति। ततान् मध्यमे यूप आलभते। सेनामुखमेवास्यैतेन संश्यति। तस्माद् राज्ञः सेनामुखं भीष्मं भावुकम्। शत.ब्रा.13/2/2/2।

अश्वमेध यज्ञ का प्रकरण चल रहा है जिस में मुख्य अश्व पशु के अतिरिक्त अन्य भी कतिपय पशुओं का आलम्बन होता है। इसी आलम्बन पद्धति के सम्बन्ध में यूपव्यवस्था का नियमन करती हुई श्रुति कहती है कि—अश्व का, तूपर का (बिना सींग के अज का) तथा गोमृग का (मृगगवय), इन तीनों का आलम्ब मध्यस्थ यूप को लक्ष्य बना कर किया जाता है। इस मध्यस्थ यूपानुगत आलम्बन के द्वारा ऋत्विक् इस पश्वालम्बन कर्म को 'सेनामुख' स्थान में ही व्यवस्थित करता है। इस कर्म से राजा के (अश्वमेध यज्ञाधिष्ठाता क्षत्रिय यजमान राजा के) सेनामुख (सेना का अग्रणी यूप समतुलित भाग ही) को ही भीष्म तथा भावुक रूप से दोनों भावों से निष्पन्न करता है। तात्पर्य यही है कि सेना वही सफल मानी जाती है,—जो आवेश पूर्वक प्रतिपक्षी पर भयानक आक्रमण करने वाली हो। साथ ही जिस में समर्पणरूप हृदयगत भावना भी हो, मरमिट जाने की सहज प्रवृत्ति हो। आक्रमणानुगत आवेश जहाँ सेना का 'भीष्म' भाव है, वहाँ मरमिट जाने की आतुरता 'भावुकता' है। भीष्म और भावुक, दो भावों से समन्वित सेना ही जयलाभ का निमित्त बना करती है। यहाँ श्रुति में पठित 'भीष्म' शब्द जहाँ 'निष्ठा' का संग्राहक है, वहाँ 'भावुक' शब्द 'भावुकता' का ही संग्राहक बना हुआ है।

कृष्णाग्रीवं आग्नेयं रराटे पुरस्तात्। पूर्वाग्निमेव तं कुरुते।

तस्माद् राज्ञः पूर्वाग्नि—भावुकः। शत. ब्रा. 13/2/2/3

प्रस उसी अश्वमेध का चल रहा है। अश्वमेध में संग्रहीत अजपशु वैसा होता है, जिस की ग्रीवा कृष्ण (काली) हो क्योंकि यह अज मुख्य रूप से अग्नि देवता के लिए नियत

है एवं कृष्णग्रीव अज ही अग्नि देवत्य माना गया है। इस कृष्णग्रीव अज को ही नियुक्त करते हैं। मध्यस्थ यूप में स्थित अश्व के ललाट प्रदेश के सम्मुख ऐसा करता हुआ ऋत्विक् राजा के प्रतिनिधिरूप अश्वमेधीय अश्व के सम्मुख ही अजरूप अग्नि प्रतिष्ठित करता है। इसीलिए तो अश्वमेध यज्ञ सम्पत्ति से समन्वित राजा के लिए अग्नि देव से भावुक बने रहते हैं। तात्पर्य यही है कि अग्नि स्वभाव से प्रदीप्त है उग्र है, अत एव निष्ठाभावसमन्वित है। तथापि इस कर्म विशेष से उग्र भी नैष्ठिक भी अग्नि इस राजा के लिए ऋजुभावेन भावुक (उसी प्रकार) अनुवर्त्मा बना रहा है, (जैसे कि स्त्री पुरुष के प्रति भावुक बनी रहती है)।

सारस्वतीं मेषीमधस्ताद्धन्वोः। स्त्रीरेव तदनुगाः कुरुते। तस्मात्—

स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः। शत. ब्रा. 13/2/2/4

अश्वमेध यज्ञ में यूपभूत दोनों हनुर्भागों के समीप सरस्वती देवतानुगता मेषी (भेड़) को नियुक्त करते हैं। ऐसा करते हुए मानों राजा के प्रतिनिधि रूप अश्वपुरुष के स्त्री को ही अनुगता बनाते हैं। इसीलिए तो स्त्रियाँ पुरुष की अनुवर्त्मा बनती हुई भावुक हैं। गतानुगतिकता—परावलम्बनता— पराश्रयता—ही भावुकता के सहज धर्म हैं एवं प्रकृत श्रुति में 'भावुकता' शब्द के इन्हीं सहज धर्मों की स्पष्ट घोषणा हुई है।

**योषित्येव रूपं दधाति। तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका (शत.ब्रा. 13/1/9/6)—
मुहुर्हो रसिका भुवि भावुकाः (श्रीमद्भागवत 1/1/3)**

इत्यादिरूप से अन्यत्र निगम और आगम में भी 'भावुकता' के मानसिक सोम—रसात्मक अस्थिरभाव का ही समर्थन हुआ है। इस तरह उक्त निगम और आगम के वचनों के द्वारा निष्ठा और भावुकता शब्दों की आप्तता भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है। इसी आप्तप्रामाण्य बुद्धि को आधार मानकर हमें इस 'निष्ठा भावुकता— तत्त्वमीमांसा' नामक द्वितीय खण्ड के तृतीय स्तम्भ की शास्त्रीय मीमांसा में प्रवृत्त होना है।

निष्ठा और भावुकता शब्दों का निर्वचन—

गतिनिवृत्त्यर्थक 'स्था' धातु ('ष्ठा' गतिनिवृत्तौ भ्वादिः) धातु से आतश्चोपसर्ग— उपसर्गादित्यादि सूत्रों द्वारा प्रत्ययादि निष्पत्ति पूर्वक सम्पन्न होने वाले 'निष्ठा' शब्द का निर्वचनार्थ है— **नितरां स्थितिर्निष्ठा**। जहाँ गति स्थिर हो जाय, केवल स्थिर धर्म ही जहाँ शेष रह जाय, वैसा आत्यन्तिक निश्चल—अविकम्पित—स्थिर भाव ही 'निष्ठा' है।

प्राप्त्यर्थक 'भू' धातु ('भू' प्राप्तौ—आत्मने पद—चुरादिः—भावयते—भवते) से 'उक०' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'भावुक' शब्द का निर्वचनार्थ है—मानसिक सहज प्रवृत्ति निबन्धन लाभ तात्पर्य—मानसिक भावों का किसी भी भूत—भौतिक भाव के प्रति अनुगत हो जाना ही 'भावुकता' है एवं इस एषणात्मिका मानसिक वृत्ति से समन्वित रहने वाला मानव ही 'भावुक'

है। निष्ठा और भावुकता शब्दों के इन शाब्दिक निर्वचनार्थों के गर्भ में जो तात्त्विक निर्वचनार्थ प्रतिष्ठित हैं, वही प्रस्तुत स्तम्भ का मुख्य विषय है, जिसका अनेक प्रकार से समन्वय करते हुए ही इन शब्दों की वास्तविक तत्त्वमीमांसा हृदय में कर सकेंगे।

‘प्रतिष्ठा’ तत्त्व—

स्वात्मावबोधादपरं न किर्णित् इत्यादि सूक्ति के अनुसार मानव के अपने आत्मस्वरूप बोध के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा विशिष्ट पुरुषार्थ नहीं है। परम पुरुषार्थ लक्षण यह स्वभावबोध (अपने आप को तत्त्वतः समझ लेना) आत्मस्वरूप की **स्वानुभवैकगम्या स्वानुभूति** (अपने आप का सहज अनुभव, स्वरूपबोध) ही आत्मा की ‘स्वरूप प्रतिष्ठा’ मानी गई है। **स्वानुभवैकगम्या स्वानुभवमात्रमूला— स्वानुभवैकस्वरूपा** यह **आत्मप्रतिष्ठालक्षणा** स्वरूप **प्रतिष्ठा** ही पार्श्वभौतिक विश्व के अन्यान्य यद्यावत् द्वन्द्वात्मक सदसद्-भावों की मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। अत एव इस आत्मप्रतिष्ठा को हम **‘प्रतिष्ठानां प्रतिष्ठा’** लक्षणा **सर्वप्रतिष्ठा** कह सकते हैं। जिस प्रतिष्ठा तत्त्व को दार्शनिक परिभाषा में **सत्ता** एवं **विज्ञान** की भाषा में **अधिष्ठान** (**आवपन-धृति**) नाम से व्यवहृत किया गया है।

प्रतिष्ठा और धृति—

धृतिलक्षणा प्रतिष्ठा के वैज्ञानिकों ने अपेक्षाभेद से अनेक विवर्त माने हैं, जिन में **आत्मधृति—सतोधृति—असतोधृति** इन तीन मुख्य धृतियों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, इन (इन्हीं में) सम्पूर्ण धृतियों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रतिष्ठात्मिका धृति ही ‘निष्ठा’ की स्वरूपसंग्राहिका बनती है, अत एव निष्ठा के शास्त्रीय स्वरूप समन्वय से पूर्ण **तदाधारभूता ‘धृति’** का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेना अनिवार्य बन जाता है। सर्वाधारभूता प्रतिष्ठालक्षण ‘धृति’ अथवा धृतिलक्षणा प्रतिष्ठा के मौलिक स्वरूप-परिचय के लिए सर्वप्रथम निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति को लक्ष्य बनाना पड़ेगा—

सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत—भूयान्त्स्यां, प्रजायेय इति ।

सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत ।

स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् ।

सैवास्मा प्रतिष्ठाभवत् । तस्मादाहुः—ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा इति ।

तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति । प्रतिष्ठा, ह्येषा, यद् ब्रह्म । शत. ब्रा. 6/1/1/8

तत्त्वात्मिका त्रयी विद्या और प्रतिष्ठा ब्रह्म—

“निष्कलपरात्पर ब्रह्म से अभिन्न पार्श्वकल अव्ययपुरुष की **श्वोवसीयस्मनोऽनुगता** सृष्टिकामना से तदभिन्न पार्श्वकल अक्षरपुरुष के प्राणव्यापार ‘तप’ से रूप एवं तदभिन्न पार्श्वकल पुरुष के वाग्व्यापाररूप श्रम से निष्पन्न सप्तप्राणसमष्टिरूप—अतएव ‘सप्तपुरुषात्मक पुरुष’

नाम से प्रजापति के द्वारा सर्वप्रथम जो विश्वाधारभूत तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ, वह 'त्रयी विद्या' (ऋक्-यजुः-साम विद्या) नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही तत्त्वात्मिका त्रयी विद्या पुरुषप्रजापति की वैसी प्रतिष्ठा बनी, जिस पर प्रतिष्ठित होकर प्रजापति विश्व निर्माण में समर्थ होते हैं। इसीलिए तो इस त्रयी लक्षण 'ब्रह्म' को इस सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा माना गया है। जो कि त्रयी ब्रह्म है, वह प्रतिष्ठा ही तो है।"

उक्त अक्षरार्थ से साथ ब्राह्मण श्रुति का रहस्यार्थ तो शतपथभाष्यादि अन्य निबन्धों में ही देखना चाहिए। प्रकृत में तो केवल इस अक्षरार्थ पर ही विश्राम करना पड़ेगा कि परात्पर-अव्यय अक्षर-क्षर मूर्ति, अव्ययानुबन्ध से मनोमय (ज्ञानमय), अक्षरानुबन्ध से प्राणमय (क्रियामय), क्षरानुबन्ध से वाङ्मय (अर्थमय) बने हुए, अपने अक्षरात्मक मध्य के प्राणभाग से विभूतिसम्बन्ध द्वारा 'चत्वार आत्मनः, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' इस प्रकार सप्त प्राणात्मक चिति पुरुषरूप में परिणत हो जाने वाले षोडशी प्रजापति के मनः प्राण-वाग्निबन्धन क्रमशः काम-तपः-श्रम इन तीन सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों के व्यापार से निःश्वास रूप से जो तत्त्व सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है उसे ही 'त्रयी ब्रह्म' कहा गया है एवं पुरुषात्मा से अभिन्न यही त्रयी ब्रह्म सम्पूर्ण चराचर की मूल प्रतिष्ठा बनता है। अत एव इस 'त्रयी ब्रह्म' को ही 'प्रतिष्ठा' ब्रह्म कहा जाएगा जिसे प्रकृत में 'धृति' नाम से व्यवहृत किया है। धृतिलक्षण इस प्रतिष्ठाब्रह्म के आत्म-सतः-असतः रूप तीनों विवर्तों का क्या स्वरूप है ? सर्वप्रथम इसी प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त होना चाहिए।

वेद, विद्या और ब्रह्म-

सप्तपुरुषात्मक प्रजापति के काम-तपः-श्रम-से श्रुति ने जिस त्रयी विद्यात्मक वेदब्रह्म का आविर्भाव बतलाया है, वही ब्रह्म 'प्रतिष्ठा' तत्त्व है एवं इसी के तीन विवर्त हैं प्रस वेदब्रह्म का समुपस्थित हो पड़ा। अतएव यहाँ तत्सम्बन्ध में कुछ समझ लेना आवश्यक होगा। 'वेद' उस मौलिक तत्त्व का नाम है, जो सच्चिदानन्द लक्षणा-अव्यय, अक्षर, क्षर मूर्ति षोडशी प्रजापति का निःश्वास माना गया है। शब्दात्मक वेदब्रह्म उस नित्य अपौरुष तत्त्वात्मक वेदब्रह्म का निरूपक शास्त्र है नित्य तत्त्वात्मक वेदब्रह्म के तेज-स्नेह भेद से 'ब्रह्म-सुब्रह्म' नामक दो विवर्त हो जाते हैं, जिन की संक्षिप्त स्वरूप दिशा पूर्व की विश्वस्वरूपमीमांसा में स्पष्ट कर दी गई है। ब्रह्मवेद तेजोमय अग्नि वेद हैं। सुब्रह्म वेद स्नेहमय सोमवेद हैं। अग्निमय ब्रह्मवेद ही ऋक् यजुः सामरूप से तीन भागों में विभक्त होता हुआ 'त्रयं ब्रह्म' - 'त्रयी विद्या' - 'त्रयो वेदाः,' इत्यादि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है।

सोममय सुब्रह्म वेद ही चौथा तत्त्वात्मक अथर्ववेद हैं। इस प्रकार एक ही वेदतत्त्व के आरम्भ में तेज और स्नेह के भेद से ब्रह्म सुब्रह्मात्मक दो विवर्त हो जाते हैं एवं आगे चलकर तेजोलक्षण आग्नि रस अग्नि के ध्रुव-धर्म-धरुणात्मक (घन-तरल-विरलात्मक) अवस्थाओं के भेद से निष्पन्न अग्नि-वायु-आदित्य-प्राणों के भेद से ऋग्-यजुः-साम नामक तीन अवान्तर विवर्त हो जाते हैं।

स्नेह लक्षण सुब्रह्मात्मक अथर्ववेद अपने सोमरूप अन्नधर्म से प्रतिष्ठा भाव से वर्णित है। अत एव इसका प्रक्रान्त 'प्रतिष्ठा' अथवा धृति प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सोमान्नमय अथर्व का अन्नान्नादमय त्रयी वेदात्मक प्रतिष्ठावेद में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। अत एव इस चतुर्थ अथर्ववेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। अत एव शास्त्र में यत्र—तत्र 'वेद' अभिधा से 'त्रयी विद्या'—'त्रयं ब्रह्म' 'त्रयो वेदाः' इत्यादि त्रित्वभावापन्न व्यवहार ही प्रसिद्ध हो रहे हैं।

'आत्म' 'प्रतिष्ठा' और 'ज्योतिः' लक्षण वेद का स्वरूप—

ऋग्यजुः सामात्मक अग्निवेद के 'आत्मवेदः—प्रतिष्ठावेदः—ज्योतिर्वेदः' में तीन अवान्तर विवर्त हो जाते हैं। प्रतिष्ठा के आधार पर ही आत्मा सुविकसित रहता है। आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा ही आत्मा का स्वरूपभान है एवं यह भान ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि है और 'उपलब्धि' ही 'वेद' पदार्थ है। प्रतिष्ठात्मक उपलब्धि 'आत्मा' ही आत्मवेद है, यही यजुर्वेद है क्योंकि 'वय' रूप से उपलब्धि यजुः की ही होती है। प्रतिष्ठावेद का ही नाम 'ऋग्वेद' है एवं ज्योतिर्वेद का ही नाम 'सामवेद' है। मूर्तिरूपा अभिव्यक्ति ही प्रतिष्ठा की स्वरूप परिचायिका है। अत एव प्रतिष्ठा व्यक्तमूर्ति से (वस्तुपिण्ड से) अभिन्न है। अत एव मूर्तिरूपा प्रतिष्ठा को 'प्रस्ताव' सम्बन्ध से अवश्य ही 'ऋग्वेद' कहा जा सकता है। वस्तु पिण्डात्मिका मूर्तिप्रतिष्ठा के आधार पर दूसरे शब्दों में प्रतिष्ठित मूर्त पिण्ड के आधार पर ही बहिर्मण्डलरूप से पिण्डगत सूक्ष्मप्राणों का वितान होता है यह वितानात्मक आतानभाव ही वस्तु का बहिर्मण्डलात्मक विकास है। यही ज्योति है। यही वस्तुपिण्ड का 'निधनात्मक' अवसानात्मक साम है। अत एव इस वितानज्योतिर्मण्डल को अवश्य ही 'सामवेद' माना जा सकता है। मण्डल, वस्तुपिण्ड, वस्तुपिण्डात्मयुक्त तत्त्वरूप गतिशील प्राण, यही तत्त्वात्मक वेद का स्वरूप परिचय है। मण्डल ज्योति है, यही साम है। वस्तुपिण्ड मूर्ति है, यही ऋक् है। गतिशीलप्राण ही यजुः है। प्राणात्मक यजुः ही आत्मवेद है, पिण्डात्मक वस्तुभाव ही ऋक् है, यही प्रतिष्ठा है एवं मण्डलात्मिका ज्योति ही साम है इसी तत्त्व वेदत्रयी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् तित्तिरि ने कहा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।

सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥

तैत्तिरीय ब्रा. 30/8/1।

1. आत्मवेदः—यजुर्वेदः—गतिभावः (वायुवेदः)
2. प्रतिष्ठावेदः—ऋग्वेदः—मूर्तिः (अग्निवेदः) सैषा वेदत्रयी तत्त्वात्मिका
3. ज्योतिर्वेदः—सामवेदः मण्डलम् (आदित्यवेदः)